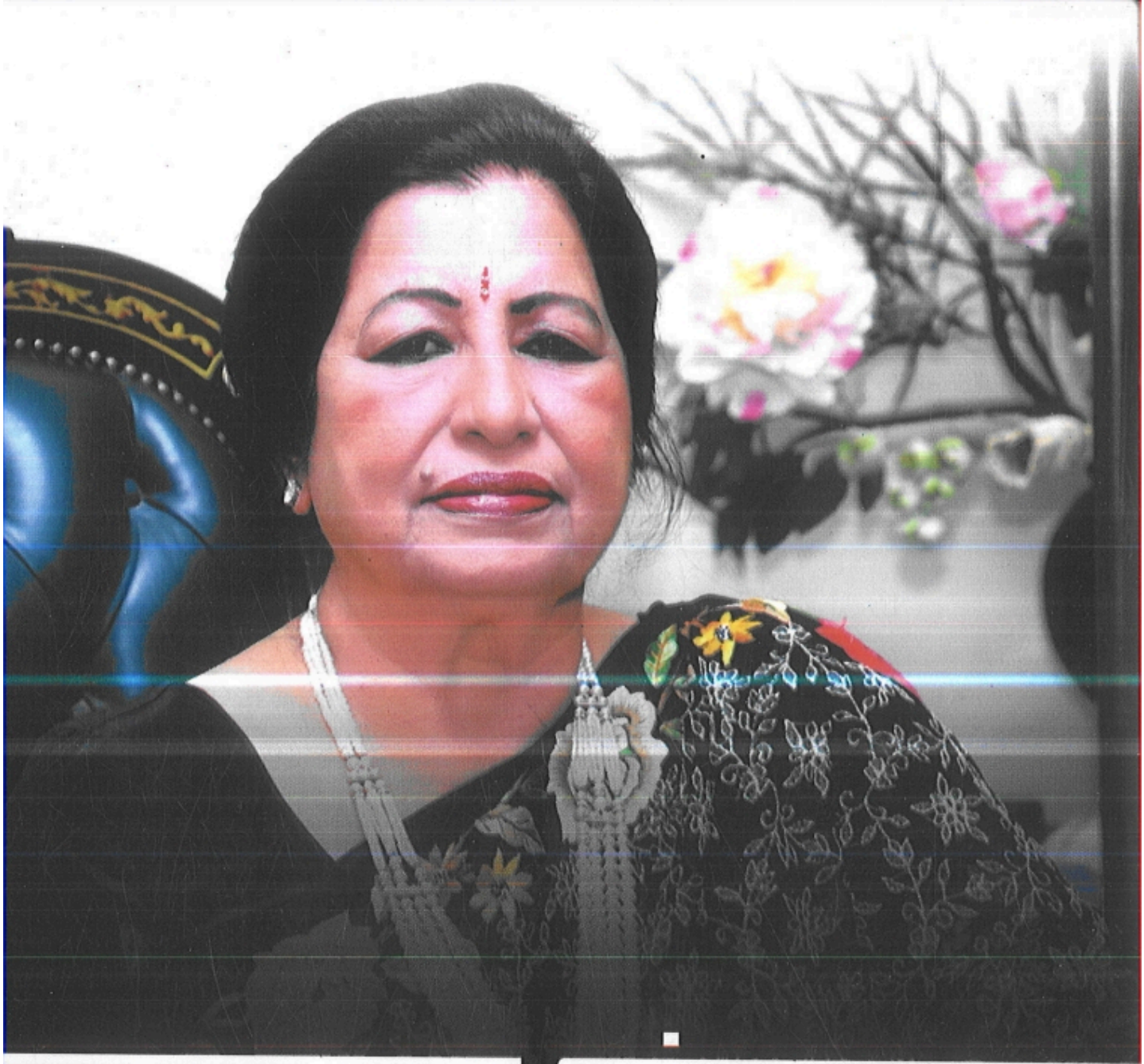

कुसुम अंसल

एक मूल्यांकन : कथा साहित्य

सम्पादक : वन्दना यादव

अन्धेरी दरारों में सोए आलोक पिंडों की परछाइयां

◆ *रेखा सेठी*

अपने एक संवाद में गगन गिल ने कहा था कि स्त्री लेखन मोनोलॉग है। वह अपने आपसे बात करते हुए लिखा जाता है। कुसुम अंसल का यह उपन्यास पढ़ते हुए यह पंक्ति बार-बार मेरे मन पर दस्तक देती रही। 'परछाइयों का समयसार' में नताशा की कहानी सिर्फ प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझती एक युवा लड़की के प्रतिष्ठापित होने की कहानी भर नहीं है। यह बाहर से भीतर की यात्रा है। अस्मिता और अस्तित्व के सवालों से परे अपने पूर्णत्व को पा जाने के अहसास की कहानी है।

हम कुसुम अंसल को जिन कथात्मक रचनाओं के लिए जानते हैं, भले ही वह 'एक और पंचवटी' हो या 'तापसी', उनकी नायिकाओं के जीवन और चरित्र में मैलेनकली, गहरे दुःख का बारीक तन्तु हमेशा अनुस्यूत रहता है। सम्भवतः यह भरे-पूरे परिवेश के भीतर बजता अकेलापन है, जो जब आपके जीवन से अभिन्न हो जाए तो अपने 'स्व' और 'संसार' को पहचानने की दृष्टि बदल देता है। 'अस्मिता' की परिभाषा भी 'मैं' के सीमित दायरे से निकलकर व्यापक व घने जीवन-बोध को अर्जित करने में बदल जाती है।

पूरे उपन्यास की परिस्थितियां हमारी जानी-पहचानी हैं, जैसे कोई पास-पड़ोस की कथा सुना रहा हो। नताशा, शैलेन्द्र, डॉ. वेद मेहरा सामान्य मध्यवर्गीय पात्र हैं। भले ही शैलेन्द्र और पापाजी का परिवार गहरी आत्मीय डोर से बंधा परिवार है। शैलेन्द्र के एक्सीडेंट से उत्पन्न स्थिति नताशा और पापाजी दोनों के लिए अलग चुनौती प्रस्तुत करती है, जिससे वे अपनी-अपनी तरह समझौता करते हैं।

इस परिवार के साथ-साथ अनेक छोटी-बड़ी कहानियां हैं, अस्पताल में मिली प्रिया या पूजा, हैरी, विद्यावतीजी—पीड़ा, शोषण, क्रूरता की कहानियां, जिन्दगी के स्याह अन्धेरों की कहानियां, जो भयावह होते हुए भी सच हैं। यहां स्वार्थ की निर्ममता में सारे रिश्ते तार-तार होकर बिखरते दिखाई पड़ते हैं। पूजा की कहानी हो या विद्यावती की, वे अपने आप में स्वतंत्र कहानियां हैं, जिन्हें लेखिका ने अत्यन्त संवेदनशीलता से नताशा की मूल कहानी से जोड़ दिया। 'परछाइयों का समयसार' निश्चित ही अनेक परछाइयों का कोलाज है जो अलग-अलग न पड़ी रहकर एक-दूसरे को आच्छादित किए हुए हैं। उनके भीतर से गुजरती रोशनी की एक लकीर दर्द के धुंधलके को उजाले की ओर बढ़ाती है, 'डार्कनैस इज नैवर एब्सोल्यूट'।

कुसुम अंसल के इस उपन्यास को अनेक दृष्टियों से पढ़ा जा सकता है। स्त्रीवादी पाठ से पहले उसकी सामाजिक दृष्टि के विस्तार को पकड़ना बेहतर होगा। जब मैं कहती हूं कि यह बहुत-सी परछाइयों का कोलाज है तो बिना सोचे नहीं कहती। इन परछाइयों के बीच दर्द की साझेदारी है। 'सिमरन' के सरदारजी और देवकी हों या जुबैदा और साहिल, बरसों के बाद भी एक-सी हकीकत, एक-सी नफरत के साझीदार हैं। साम्प्रदायिक दंगों की आग ऐसे घाव देती है कि बिना झुलसे हुए उससे बच पाना मुश्किल है। सब सामान्य दिखने पर भी एक शून्य बना रहता है, जो कभी नहीं भरता। सरदारजी अपनी कहानी सुनाते हुए कहते हैं—

हमारी रूह में जो डर पालथी मारकर बैठ गया था, वह निकला नहीं। इतने हादसों के बाद सहज कहां रह पाता है कोई बेटा? यही प्रतिध्वनि जुबैदा के शब्दों में भी है—जाने कब खतम होगी ये हमारी मजहबों की जंग, दिलों की नफरतें, इन्सान की इन्सान से दूरियां?

सरदारजी ने विभाजन के दंगे झेले हैं तो जुबैदा ने उसके पचास बरस बाद के, लेकिन वहशीपन और दर्द की लकीरें बदली नहीं। क्रोध और नफरत मानवीय सद्भावों के ताने-बाने को छलनी कर रहे हैं। लेखकीय हस्तक्षेप इन पात्रों व प्रसंगों

में कुछ इस रूप में दिखाई पड़ता है कि ऐसी प्रतिकूलता झेलते हुए भी वे दुनिया के प्रति कटु नहीं हुए। ईश्वरीय कृपा व आस्था पर उनका भरोसा टूटा नहीं है और मानव-मात्र के प्रति करुणा का अहसास भी कमतर नहीं हुआ। पूरे उपन्यास में सरदारजी अपने व्यक्तित्व में ऐसी विराटता के साथ उभरते हैं, जो अपने साये में सबके घावों का मरहम हो जाना चाहता है, क्रूरता को अपनी मृदुता से खारिज करता हुआ।

इन पात्रों को रचती-बनाती लेखिका दर्शन के गलियारों में लगातार आवाजाही करती रहती है। भावनाओं के इस ज्वार-भाटे में वह क्या ढूंढ़ रही है? इस प्रश्न का सम्भावित उत्तर हमें पुस्तक के फ्लैप पर मिलता है, जहां यह संकेत दिया गया है कि कुसुम अंसल मनोविज्ञान की अध्येता हैं, ठीक वैसे ही, जैसे नताशा और अस्पताल का परिवेश बहुत-सी स्वाभाविकताओं को जन्म देता है, जिसे लेखिका ने नताशा के माध्यम से जिया है। लेखकीय दृष्टि को महत्त्व देते हुए भी यह टिप्पणी अंशतः ही सही है। कुसुम अंसल जिस खूबसूरती से नताशा का चरित्र गढ़ती हैं, उसमें पात्र की स्वाभाविकता या विश्वसनीयता पर कहीं भी लेखकीय दृष्टि हावी होती नहीं लगती। नताशा स्वयं एक यात्रा पर है—**Journey of self actualization.**

अपने 'स्व' को पाने या अर्जित करने की प्रक्रिया में नताशा मानवीय भावनाओं के अंतरतम तक पहुंचती है। उसका जीवन छोटे-बड़े प्रसंगों से होता हुआ गहरे जीवन-दर्शन के अर्जुन के लिए समर्पित है। यह यात्रा सरल नहीं, वह बार-बार अपने विश्वासों से टकराती, मुठभेड़ करती है, जिससे वह नए जीवन-सत्य को प्राप्त कर सके।

आधुनिक मन पर लदे सवाल कई तरह के हैं—समर्पण से लेकर अपने होने के अहसास तक। सामान्य जीवन स्थितियों में शायद नताशा के लिए ईश्वर के अस्तित्व को नकार पाना आसान है, लेकिन अपनी आंखों के सामने तिल-तिल कर पत्थर होते शैलेन्द्र को देखते हुए यह सवाल किसी दूसरे सिरे से उठता है। ह्यूमन इमोशंस मानवीय भावनाओं का संसार उद्दाम वेग के झंझावातों से उतप्त संसार है, जिसे विचार की प्रश्नाकुलता पल-प्रतिपल और बेचैन करती रहती है। ऐसे में क्या आस्तिकता की रोशनी राहों में उजाला भर सकती है? डॉक्टरों और नर्सों के बीच नताशा अपने विश्वास को फिर से परखती है। डॉक्टर प्रशांत के समक्ष नताशा कनफेस करती है कि वह भगवान को मानती ही नहीं, लेकिन

परिस्थितियों से हारते डॉक्टर के लिए समर्पण जीने का आधार है। समर्पण हम इस कारण करते हैं कि हमारा सन्देह समाप्त हो जाए। कोमलता जीवन का स्रोत है और समर्पण उस कोमलता को बचाए रखने की कोशिश।

मनोविज्ञान का सबसे बड़ा सवाल 'स्व' को परिभाषित करने का है, अपने होने का अहसास अपने बीइंग पर विश्वास। नताशा का मन बार-बार डोलता है, लेकिन अन्ततः उसका Self Actualisation अपने होने की पहचान बन जाता है। उपन्यास के आरम्भिक हिस्से में नताशा का जीवन द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है। शैलेन्द्र के साथ वह जिस दुनिया को देख रही है, उसमें उसके लिए आत्म विश्वास के मायने बदल रहे है। पी.एच.डी. करनेवाली आधुनिक लड़की, किताबों के बीच किताब-सी ही लगती है। उसकी अपनी दुनिया है, जिसका बाहरी दुनिया से इंटरेक्शन बहुत कम है। शैलेन्द्र का प्यार पाकर वह निरन्तर महसूस कर रही है कि उसमें आत्मविश्वास जाग रहा है। जैसे सन्देह की अपेक्षा समर्पण जीवन का सम्बल है, वैसे ही प्रेम और विश्वास नताशा के लिए साहस का सोपान। उत्तर-आधुनिक स्त्रीवादी दृष्टि से इसे पढ़ना कथा के इस अंश को समस्याग्रस्त करता है। चाहे-अनचाहे सातवें दशक के स्त्री साहित्य में उभरने वाली स्त्री-अस्मिता की आवाजें इस पाठ का अन्तरपाठ रचती हैं। मन्नू भंडारी या ऊषा प्रियंवदा के कथा-साहित्य में मनःस्थिति व परिस्थिति के द्वन्द्व में घिरी स्त्री सहज नजरों में तैर जाती है तो कभी कृष्णा सोबती की 'ए लड़की' की लड़की विश्वास-अविश्वास के शिखरों-घाटियों के बीच डोलती दिखाई पड़ती है। समानताओं के इस अहसास के बावजूद 'परछाइयों का समयसार' की नताशा किसी और धरातल पर उतरती है।

विचार और संवेदना के इस घटाटोप में ईसा मसीह एक दृष्टि-बिन्दु की तरह उभरते हैं। सिस्टर डोरोथी ईसा के क्रूसीफिकेशन और लिबरेशन की जो कहानी सुनाती हैं, वह सम्भवतः प्रत्येक व्यक्ति की पीड़ा और मुक्ति का रहस्य है। 'ही वाज इंजर्ड बाई ह्यूमन इमोशंस', वे इन्सान की ही दी हुई मानसिक चोटों से घायल थे। यह पीड़ा मुक्ति का सबक है, दुनियावी जिन्दगी से आगे का सफर, जिसे नताशा उस अस्पताल की चारदीवारी के भीतर महसूस कर पाती है। हर पल शून्य से घिरे होकर भी अपने बीइंग, अपने वजूद को पा लेने की यात्रा नताशा के लिए आसान नहीं। फिर भी वह जिस गन्तव्य तक पहुंचती है, वह विलक्षण है। एक साहसी और समर्थ महिला को, अपनी सम्पूर्णता प्राप्त करने के लिए किसी भी सहारे की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने होने में, अपने आप में

पूर्ण है। नताशा के इस अर्जित सत्य में ईसा शामिल हैं तो बुद्ध की यशोधरा भी। वहां कभी सार्त्र चले आते हैं, कभी किर्केगार्द तो कभी गालिब और फैज। एक बार फिर कहना पड़ता है कि यह रचना केवल बाहरी यथार्थ से नहीं रची गई; भीतरी यथार्थ भी उसमें आवाजाही करता है, परत-दर-परत उसे खोलता हुआ।

साहित्य का कोई जैंडर नहीं होता, फिर भी इस उपन्यास को पढ़ते हुए जाने कितनी बार यह खयाल आया है कि यह उपन्यास यदि किसी पुरुष ने लिखा होता तो ये मानना पड़ेगा कि एक महीन स्त्री दृष्टि इस उपन्यास में झलकती है। रुकैया सखावत हुसैन ने जब 'सुल्ताना का सपना' बुना था तो जो नई दुनिया उसे दिखी, उसमें फूल खिले थे, खुशी की लहर थी। औरतों की दुनिया शान्ति और सद्भावना की दुनिया थी। ऐसी परिकल्पना उस कहानी में तमाम फैमिनिस्ट डिस्कोर्स के आने से बहुत पहले रूपाकार पाती है। कुसुम अंसल द्वारा प्रस्तुत इस समयसार में भी सदिच्छा-सद्भावना का सार है। जीवन और संवेदना को पओजिटिविटी से ग्रहण किया गया है। नताशा का शोध मानवीय भावनाओं की जिन गुत्थियों को सुलझाता है उसमें व्यक्ति का सेल्फ-'इड, ईगो या सुपर ईगो' जैसे वर्गीकरण में खंडित न होकर भावना से प्रदीप्त समेकित इकाई है, जिसमें अहम-केन्द्रित संसारी मन के अहम् मिट जाते हैं और सैल्फ या आत्म का एक नया दरवाजा खुलता है। नताशा के माध्यम से अहम् को निरस्त करनेवाली संवेदनशील भावात्मक दृष्टि कथा की सीमाओं के पार जीवन को देखने-समझने की विवेकशील जीवन-दृष्टि बन जाती है। जैसी मिले जिन्दगी, उसे वैसे ही गले लगा लेना चाहिए या फिर टूट जाती है गिरह, विश्वास खंडित हो जाते हैं, परन्तु जीने की राह तो तलाशनी पड़ती है।

यूं तो यह उपन्यास 'परछाइयों का समयसार' है, किन्तु इन परछाइयों में गहन दृश्यात्मकता है। आगे-पीछे चलती कथा विविध जीवन-सूत्रों को अनुस्यूत कर दृश्य बिम्ब-सा रच देती है। शब्दों और अन्तरालों के उभरते बिम्ब पाठक को सभी पात्रों से जोड़ते चलते हैं। यही कारण है कि इतने सारे पात्र होने पर भी वे पाठक की स्मृति का स्थायी हिस्सा बन जाते हैं। पात्रों के व्यक्तित्व के विस्तृत ब्यौरे नहीं हैं, लेकिन उनकी विशिष्टता साफ उभर आती है। उसी के बीच उसकी वर्ग गत असमानताएं भी साफ झलक उठती हैं। उच्च वर्ग की थोथी नैतिकता और क्लास कांशियसनेस में अमान्यता की गन्ध है, जबकि सदा से मानवीयता से जुड़े पात्रों में वर्ग और धर्म के अन्तर निर्मूल होते दिखाई पड़ते हैं। प्रेम व करुणा जीवन के प्रेरक हैं।

जटिल से जटिलतर होती दुनिया में मानवीय भावनाओं का स्पन्दन, सहृदय कोमलता को बचाए रखने की मुहिम है, जिसे यह उपन्यास पूरी शिद्दत से प्रस्तावित करता है; लेकिन साथ ही यह भी कहना होगा कि जहां इसका अन्त होता है, वहीं से एक नई शुरुआत भी होती है। जीवन में भावना कैसी सम्भावना उपस्थित करती है, यह साहित्य एवं सौन्दर्यशास्त्र का बड़ा प्रश्न है। इस दृष्टि से यह उपन्यास साहित्य के आस्वाद में परिवर्तन की कोशिश करता है। बहुत बारीकी से यह अन्तर्मन के घने अवसाद तथा बाहरी यथार्थ के घटाटोप के बीच मौन संवाद स्थापित करने की स्पृहणीय कोशिश भी है, जिससे पूर्णता में घुलता हुआ निजता का स्वर अन्धेरी दरारों में सोए आलोक पिंडों को जीवित कर देता है। यही, इस उपन्यास और उसकी रचनाकार की बहुत बड़ी उपलब्धि कही जाएगी।